तेल कुटनीति के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका

डॉ. नीलम कुमारी सिंह, राजनीति विज्ञान

जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, सारण, बिहार

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध आरेख विश्लेषनात्मक एवं वर्णात्मक प्रकृति का है। शोध कार्य के लिए द्वितीयक स्त्रोतों का उपयोग किया गया है। इसके लिए मुख्यतः इन्टरनेट से प्राप्त सामग्रियों, प्रकाशित ग्रंथ, पत्र–पत्रिकाओं में छपे विवरण, निबंध एवं लेख तथा विभिन्न शोध–ग्रंथों को अध्ययन का आधार बनाया गया है।

भूमिका

न्यूयार्क पर आतंकियों के हमले, ईराक पर अमेरिकी आक्रमण और सद्दाम हुसैन को फांसी पर लटका देने की घटनाएं तथा कथित रूप से अमेरिका के नीति निर्माताओं का अपने देश के प्रति निरंतर मोह को दर्शाते हैं, शीत युद्ध के बाद की अवधि में भी इन नीति निर्माताओं का अपने देश की विदेश नीति के प्रति वैचारिक झुकाव बना रहा। लम्बें समय से अमेरिका के राजनीतिक नेताओं, सरकारी और गैर सरकारी शिक्षा और जनता के द्वारा लोकतंत्र का विकास इस वैचारिक दृष्टिकोण के मुख्य तत्व के रूप में किया गया और इस पर बल दिया गया। परन्तु शीत युद्ध के बाद की अवधि में अमेरिका की विदेश नीति के विषय में यह विशेष रूप से सत्य है कि–''अमेरिका ने अपनी विदेश नीति की आधारशिला के रूप में स्वतंत्र लोकतंत्र के विकास का समर्थन किया।''

यहॉ हमारा उद्देश्य यह है कि शीत युद्ध के बाद की अवधि और ऐतिहासिक संदर्भ में लोकतंत्र के साथ अमेरिका की विदेश नीति को चिन्हित किया जाए और उन पूर्वानुमानों की पहचान हो सके जो लोकतंत्र के लिए अमेरिका के समर्थन में निहित है। हमलोग लोकतंत्र के विकास के मुद्दे पर विवाद का आरंभ शीत युद्ध के बाद की अवधि में अमेरिका की विदेश नीति के घोषणा पत्र के रूप में कर सकते हैं, और यहॉ लोकतंत्र की व्याख्या अमेरिकन या पश्चिमी धारणा के आधार पर की जा सकती है। जैसा कि अमेरिका और स्वतंत्र दूसरे पश्चिमी देशों में समझा गया है, जीवन के एक तरीके को प्रदर्शित करता है और स्वतंत्र संस्थानों के पारस्परिक प्रभाव, प्रतिनिधि सरकार, स्वतंत्र चुनाव एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का आश्वासन, भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता और राजनीतिक और राजनीतिक उत्पीड़न से स्वतंत्रता के द्वारा इसका चित्रण ष्किया जाता है। लोकतंत्र की मार्क्सवादी धारणा के विरोध में लोकतंत्र की इस धारणा का उल्लेख गर्व के साथ स्वतंत्र लोकतंत्र के रूप में किया गया है, इसके बारे में पश्चिमी विद्धानों का कहना है कि इस धारणा का तात्पर्य सामाजिक अनुशासन है।

इस प्रकार, एक लम्बे समय तक ऐसा समझा जाता रहा है कि लोकतंत्र यू.एस. विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण निर्णायक तत्व है। मुनरो सिद्धान्त ने यू.एस. के आत्म प्रदत नैतिक वरिष्ठता को यूरोपियन को अपेक्षाकृत एक सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्रदान की, क्योंकि इसमें लोकतंत्र और अन्तर्राष्ट्रीयता

शांति के बीच एक सकारात्मक सह संबंध था। उन्नीसवीं शताब्दी में यू.एस. के नेताओं के द्वारा दिए गए वक्तव्यों ने कुछ लेखकों को प्रेरित किया कि वे उन्नीसवीं शताब्दी में यू.एस. की विदेश नीति के मुख्य कारक के रूप में लोकतंत्र के विकास के आरम्भ को रेखांकित किया। टोनी स्मिथ और करीन वॉन हिप्पेल ने अपने तत्कालिक प्रकाशनों में उन्नीसवीं शताब्दी के यू.एस. विदेश नीति के मुद्दे को लोकतंत्र के विकास के साथ चिन्हित किया है। यद्यपि, राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने युद्ध के उद्देश्यों का विस्तार करते हुए यह घोषणा की कि इस विश्व को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित बनाना चाहते हैं। इसका अवलोकन वैचारिक प्राथमिकता के प्रथम संकेत के रूप में किया जा सकता है, जिसे आने वाले वर्षो में यू.एस. विदेश नीति को निर्धारित करना था। विल्सन का प्रशासन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए अत्यन्त ही उत्साहित था। परन्तु सीनेट के द्वारा वर्साय की संधि की अस्वीकृति ने इस उत्साह को ठंडा कर दिया। गृह युद्ध के दौरान यूनाइटेड स्टेट्स हालांकि नेतृत्व के योग्य था परन्तु वह इस नेतृत्व का प्रयोग करने के लिए इच्छुक नही था। ईरान आज से नही बल्कि पिछले कई दशकों से अमेरिकी इजराइली गठबंधन के ऑखों की किरकिरी बना हुआ है। इस चिढ़ की सबसे बड़ी वजह ईरान में 1979 की वह इस्लामी क्रांति है जिसने अमेरिका समर्थक शाह मोहम्द रजा पहलवी की हुकूमत को उखाड़ फेंका था। कहने की जरूरत नही है कि अमेरिका इसे कभी बर्दाश्त नहीं कर पाया।

इसके बाद से अमेरिका, इजरायल और पश्चिम एशिया की अपनी अन्य कठपुतली हुकूमतों की मदद से ईरान में तख्तापलट की कोशिश में जुटा हुआ है। वैसे कहने वाले तो यहॉ तक कहते हैं कि ईरान में अमेरिकी घुसपैठ उससे भी पहले से है। माना जाता है कि ईरान में अमेरिकी खुफिया एजेंसी सी.आई.ए. ने 1957 में प्रधानमंत्री मोहम्मद मोसादिग की चुनी हुई सरकार के तख्तापलट में सबसे अहम भूमिका निभाई थी। अधिकांश ईरानी मानते है कि अमेरिका ने तब से ही ईरान के खिलाफ कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष युद्ध छेड़ा हुआ है।

लेकिन मोसादिग का कसूर क्या था, अमेरिका की निगाह में उनका सबसे बड़ा अपराध यह था कि उनके नेतृत्व में ही ईरान ने 1951 में तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया था। असल में, ईरान में अमेरिकी दिलचस्पी की सबसे बड़ी वजह यह तेल ही है। इस तेल पर कब्जे और उसके उत्पादन वितरण को नियंत्रण करने के लिए अमेरिका वहॉ अपनी कठपुतली सरकार चाहता रहा है। इसके लिए ही उसने ब्रिटेन की मदद से मोसादिग की सरकार पलटी और शाह रजा पहलवी की तानाशाह हुकूमत को खुला समर्थन दिया। इससे ईरानी तेल उद्योग पर अमेरिकी नेतृत्व में पश्चिमी कंपनियों का फिर से नियंत्रण कायम हो गया था। लेकिन ईरानी जनता से इसे कभी स्वीकार नहीं किया। नतीजा, 1979 की इस्लामी क्रांति जिसने एक बार फिर ईरानी तेल पर से अमेरिकी और पश्चिमी कंपनियों के कब्जे को खत्म कर दिया। यही कारण है कि अमेरिका 1979 की इस्लामी क्रांति को कभी पचा नहीं पाया। वह उसे अस्थिर और पलटने की कोशिशों में लगातार जुटा रहा।

यह किसी से छुपा नहीं है कि अमेरिकी और पश्चिमी देशों के उकसावे पर ही ईराक ने सितंबर 1980 में ईरान पर हमला बोल दिया था। आठ साल चले इस युद्ध में ईराक को अमेरिकी और पश्चिमी देशों ने ही हथियारों की आपूर्ति की। इस युद्ध में लाखों ईरानी और ईराकी सैनिक

और नागरिक मारे गए। यही नहीं, पिछले दो–ढ़ाई दशकों में अमेरिकी अगुवाई में पश्चिमी देशों ने ईरान को विश्व समुदाय के बीच अलग–थलग करने, उस पर आर्थिक–राजनीतिक प्रतिबन्ध लगाने और उसके खिलाफ घोषित –अघोषित छाया युद्ध सा छेड़ रखा है। इसके लिए मुद्दा उसके परमााणु कार्यक्रम को बनाया गया है। पिछले डेढ़–दो दशकों से अमेरिकी नेतृत्व में ईरान के परमाणु कार्यक्रम के खिलाफ एक जबरदस्त प्रचार अभियान चलाया जा रहा है। इस प्रचार अभियान की थीम जानी–पहचानी है कि ईरान परमाणु बम बनाने में लगा है और अगर उसे रोका नही गया तो बहुत जल्दी वह बम बनाने में कामयाब हो जाएगा। इससे इस इलाके की शांति–सुरक्षा और स्थायित्व की गंभीर खतरा पैदा हो जाएगा।

लेकिन यह सिर्फ बहाना है। असली निशाना ईरानी तेल है। ईराक का उदाहरण अभी पुराना नहीं पड़ा है। ईराक के मामले में भी बहाना उसके परमाणु और रासायनिक–जैविक हथियारों को ही बनाया गया था। लेकिन सभी जानतें हैं कि उसका असली मकसद इराकी तेल भंडारों पर कब्जा जमाना था। तत्कालिन अमेरिकी रक्षा उपमंत्री और ईराक पर हमले के प्रमुख राजनीतिकार पाल वुल्फोवित्ज के मुंह से एक बार गलती से निकल गया था कि ईराक तेल के समुद्र पर तैर रहा है।

असल में यह अमेरिकी पी.आर. मशीनरी की जबरदस्त खूबी है कि वह असली मकसद पर पर्दा डालने और नकली मकसद को उछालने और झुठ को सच बनाने में कामयाब रहती है इसका एक और ताजा उदाहरण लीबिया है जहॉ अमेरिकी अगुवाई में नाटो देशों ने आम नागरिकों के जनसंहार को रोकने के नाम पर सैन्य हमले को मानवीय हस्तक्षेप बताते हुए जायज ठहराया।

लेकिन असली मकसद किसी से छुपा नहीं है लीबिया लंबे समय से अमेरिकी निशाने पर था और कर्नल मुअम्मर गद्दापी का तख्ता पलटने से लेकर हत्या करने की दर्जनों कोशिशें की गई। यही नही, नाटो ने सैन्य हस्तक्षेप से पहले लीबियाई विद्रोहियों से पश्चिमी तेल कंपनियों को प्राथमिकता देने का वायदा ले लिया था। यह भी किसी से छुपा नही है कि अमेरिका पश्चिम एशिया में इतनी दिलचस्पी क्यों लेता है। अगर पश्चिम एशिया में तेल का विशाल भंडार नहीं होता तो शायद ही अमेरिका झांकने आता।

तेल पर अमेरिकी अर्थव्यवस्था का निर्भरता का अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि दुनिया की विकसित अर्थव्यवस्थाओं में वह एकमात्र अर्थव्यवस्था है जिसकी उर्जा जरूरतों का 40 फीसदी तेल से पूरा होता है। वही नहीं, वैश्विक राजनीति और अर्थव्यवस्था में अमेरिकी दबदवे और वर्चस्व के केन्द्र में सबसे महत्वपूर्ण कारण दुनिया के तेल भंडारों पर उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण है। चौकाने वाला तथ्य यह है कि दुनिया भर में अपने सैन्य वर्चस्व को बनाए रखने के लिए अकेले अमेरिकी सैन्य प्रतिष्ठान हर दिन जितना तेल जलाता है, वह स्वीडन जैसे बड़े देश की खपत के बराबर है।

असल में कोई सौ साल पहले अमेरिका के आर्थिक विस्तार में इसकी बड़ी तेल कंपनियां जैसे जान डी राकफेलर की स्टैण्डर्ड आयल ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। जैसे–जैसे इन अमेरिकी तेल कंपनियां ने मैक्सिको से लेकर उत्तरी अफ्रीका, पश्चिम एशिया और एशिया में

उत्पादन, शोधन और वितरण में अपने कारोबार को फैलाना शुरू किया, इन तेल भंडारों की सुरक्षा और अमेरिकी कंपनियां के हितों की रक्षा अमेरिकी विदेश और रक्षा नीति के केन्द्र में आ गई। खासकर दूसरे विश्वयुद्ध और उसके बाद शीत युद्ध के दौरान तो अमेरिकी विदेश और रक्षा नीति तेल के साथ ऐसी नाभिनालबद्ध हो गई कि उन्हें अलग करके देखना मुश्किल है। इस दौरान अमेरिका ने इन तेल भंडारों पर अपने कब्जे को हर हाल में बनाए रखने के लिए न सिर्फ विशाल सैन्य शक्ति खड़ी की बल्कि पश्चिम एशिया में अपने हस्तक्षेप को जायज ठहराने के लिए मानवीय हस्तक्षेप लोकतंत्र स्वतंत्रता और मानवाधिकारों की हिफाजत आतंकवाद के खिलाफ युद्ध और बचाव में हमला जैसे विवादस्पद सिद्धांत गढ़े।

लेकिन दूसरी ओर तेल के लिए उसने राष्ट्रों की संप्रभुता को रौंदने और बर्बर तानाशाहियों को खुला समर्थन में कभी संकोच नही किया। सच यह है कि अमेरिका ने ईरानी क्रांति के बाद जनवरी 1980 में यह फैसला किया कि फारस की खाड़ी में अगर किसी भी देश ने तेल आवाजाही को रोकने की कोशिश की तो अमेरिका उसके खिलाफ युद्ध छेड़ देगा। इसे अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने नाम पर कार्टर सिद्धांत के नाम से जाना जाता है। यही नही, उसके बाद से एक के बाद दूसरे अमेरिकी राष्ट्रपतियों ने इसी सिद्धांत का हवाला देकर पश्चिम एशिया में हमले और सैन्य हस्तक्षेप किये। 1987 में रोनाल्ड रीगन ने इसी सिद्धान्त के आधार पर खाड़ी में कुवैती तेल टैंकरों की सुरक्षा के नाम पर अमेरिकी नौसेना तैनात कर दी थी।

राष्ट्रपति जार्ज बुश सीनियर ने 1990–91 में इसी कार्टर डाक्ट्रिन के आधार पर पहले खाड़ी युद्ध की शुरूआत की थी जिसे जार्ज बुश जूनियर ने 2003 में ईराक पर हमले के साथ समाप्त किया। इन उदाहरणों से साफ है कि अमेरिका तेल के लिए कहॉ तक जा सकता है।

ईरान के इस तेल भंडार ने ही अमेरिका को बेचैन कर रखा है। लेकिन इसे कब्जाने के लिए वह ज्यादा जोखिम लेने को तैयार नहीं है। उसे अच्छी तरह मालूम है कि ईरान, ईराक नहीं है और तेल की वेकाबू कीमतों के कारण लड़खड़ाती वैश्चिक अर्थव्यवस्था का बैठ जाना होगा। यही कारण है कि उसने पश्चिम एशिया में अपने लठैत इजराइल को आगे करके ईरान को निशाना बनाने की ब्यूह रचना शुरू कर दी है। लेकिन विडम्बना देखिए कि ईरान को घेरने की तैयारी कर रहा है, उससे खुद ईरान के अंदर परमाणु बम बनाने की वकालत करने वाली लाबी मजबूत हुई है।

ईरान भी इस षड्यंत्र को अच्छी तरह समझता है किन्तु वह अपनी हेकड़ी कम करके रहना नहीं चाहता। वह दूसरे खासकर सुन्नी देशों के मुकाबले खुद को तो ज्यादा प्रभावशाली साबित करने पर तुला ही रहता है, साथ ही ईजराइल के खिलाफ खुलकर संघर्ष के लिए आमादा भी है। 1979 के पहले जो ईरान इजरायल का अच्छा मित्र था, वह इस्लामिक क्रांति के साथ ही इजरायल का दुश्मन बन गया। आज हालत यह है कि ईरान खुलकर इजरायल के खिलाफ हिजबुल्ला आतंकियों की मदद करता है। इसीलिए जब किसी इजरायली नागरिक को खरोंच आती है तो ईरान के खिलाफ उत्तेजित हो जाता है। भारत के संबंध इजरायल से भी कम नहीं हैं। भारत के लिए कभी अछुत रहे इजरायल के साथ कूटनीतिक संबंधों की शुरूआत पूर्व प्रधानमंत्री

पी.वी. नरसिंह राव के साहस का ही परिणाम है। किन्तु उसे बुलंदियों तक पहुंचाने का श्रेय वाजपेयी को जाता है। वर्ष 2000 में तत्कालीन भारतीय विदेश मंत्री जसवंत सिंह ने इजरायल की यात्रा की, और दोनों ही आतंकवाद पीड़ित देशों ने आपसी रक्षा संबंधों को विकसित करने का संकल्प लिया।

असल में इजरायल को एक छोटा देश मान कर जो लोग भारत को यह सलाह देने में तुले हैं कि ईरान के लिए भारत को चाहिए कि वह इजरायल को छोड़ दें, वे इस तथ्य को भूल जाते है कि वह कद में भले ही छोटा है किन्तु उसका संबंध अमेरिकी ताकतों से है जो पश्चिमी देशों के गठबंधन का मुखिया है इसलिए भारत के लिए ईरान बनाम इजरायल नहीं बल्कि ईरान बनाम इजरायल एवं अमेरिका सहित सारे पश्चिमी देशों का गठबधन मानकर चलना होगा। इसलिए भारत इजरायल को नजरअंदाज करने की स्थिति में कदापि नहीं है।

तेल, तालिबान और अमेरिका.....

शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संध के विघटन के बाद मध्य एशिया में अजरबैजान, काजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, उजबेकिस्तान, किर्गिस्तान, जार्जिया, युक्रेन आदि नव स्वतंत्र देशों का जन्म हुआ। यहां एक लाख मिलियन बैरल से अधिक दोहन योग्य तेल भण्डार है। अमेरिका सहित पश्चिमी देश इन तेल भण्डारों के दोहन के व्याकुल हो उठे।

फलतः अमेरिका और पश्चिमी यूरोप की अनेक तेल कंपनियां इस ओर दौड़ पड़ी, जिनमें प्रमुख थीं मोबिल, शेवरान, यूनोकल, टेक्सका, एजिप, टोटल, स्टेट ऑयल, ब्रिटिश पेट्रोलियम और शेल आदि। परिणामतः प्रारंभ हुई तेल कुटनीति। इराक समस्या, ईरान और रूस के साथ अमेरिकी कटुता, अफगान युद्ध, इस्लामी आतंकवाद की समस्याएं बहुत कुछ इसी तेल का परिणाम है। तालिबान का जन्म वास्तव में तेल दोहन की अमेरिकी रणनीति का एक हिस्सा था। मध्य एशियाई तेल राज्य के मुख्यतः तीन प्रमुख पक्ष है– अमेरिका, रूस और ईरान। यद्यपि पाक, चीन, भारत आदि भी इससे जुड़े हैं, किन्तु मुख्य पक्ष या प्रतिद्धन्दी यही तीन है। 1991 से पूर्व मध्य एशियाई तेल का दोहन नोवोरासिरयस्क एवं पोटी नामक, बंदरगाहों से होता था। क्योंकि यह क्षेत्र सोवियत गणराज्य था।

1 रूस आज भी इसी मार्ग से तेल संसाधनों का दोहन चाहता है। क्योंकि इससे जहॉ उसे अरबों डालर की ट्रांजिट फीस प्राप्त होगी वहीं इस तेल क्षेत्र एवं उसके आवागमन पर उसका नियंत्रण रहेगा।

2 ईरान के प्राचीन काल से ही इन देशों के साथ सांस्कृतिक संबंध रहे हैं फलतः उसका इन देशों पर अच्छा प्रभाव है। ईरान इस क्षेत्र के तेल का दोहन फारस की खाड़ी से चाहता है जिससे उसे करोड़ों डालर सालाना की आय ट्रांजिट फीस के रूप में हो सके।

3 अमेरिका और उसके सहयोगी देश एक ओर जहां इस क्षेत्र के तेल और गैस भण्डारों का दोहन भी करना चाहते हैं वहीं इस क्षेत्र को ईरान और रूस से प्रभावों से भी दूर रखना चाहते हैं। परिणामतः अमेरिका ने सहायता के नाम पर इस क्षेत्र का डॉलर राजनय के द्धारा भारी आर्थिक

सहायता प्रदान की और राजनीतिक रूप से अपने पक्ष में कर लिया। यही नहीं नाटो का विस्तार भी इस क्षेत्र तक करना प्रारंभ कर दिया। संक्षेप में इस क्षेत्र पर संपूर्ण प्रभुत्व की अमेरिकी नीति प्रारंभ हुई। इस क्षेत्र के तेल और गैस भण्डारों के दोहन के लिए अमेरिकी नीति निर्माताओं ने एक रोड मैप तैयार किया जिसके तीन विकल्प थे –

1 कैस्पियन सागर के पश्चिमी तट पर स्थित अजरबैजान और जार्जिया का तेल, जार्जिया के सुपसा से कालासागर में तुर्की होते हुए, तुर्की के सेहान, बंदरगाह से सागर में निकाला जाए।

2 कैस्पियन सागर के पूर्वी तटीय देशों कजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, उजेबकिस्तान, ताजिकिस्तान का तेल एक ट्रांस काकेशियन सागर में निकाला जाए इस बेहद लंबी पाईप लाईन की लम्बाई लगभग 3000 कि.मी. से अधिक होगी और अरबों डॉलर का व्यय होगा।

3 तीसरा और सबसे सस्ता विकल्प था अफगानिस्तान होते हुए पाकिस्तान के करांची बंदरगाह से केवल 1300 कि.मी. लम्बी पाईप लाईन द्धारा इस क्षेत्र के तेल एवं गैस का दोहन किया जाए। इस विकल्प के पालन के कई अन्य सस्ते और अधिक लाभ वाले फायदे थे।

(क) पाकिस्तान अमेरिका का लगभग गुलाम देश है। फलतः सम्पूर्ण परिवहन का उसका प्रभावी नियंत्रण रहेगा।

(ख) भारत के गुजरात तट पर स्थित भारतीय रिफाईनरीयों से अपेक्षतया सस्ते में शोधन कार्य हो जाएगा।

(ग) इस तेल और गैस का बड़ा बाजार भारत के रूप में विद्यमान था।

(घ) तेल टैंकरों की सुरक्षा के नाम पर अरब सागर में अमेरिका का अपना सौ सैनिक बेड़ा तैनात करने का बहाना मिल जाएगा।

बस यही से तालिबान के जन्म की पटकथा लिखी गयी। वस्तुतः अफगानिस्तान होते हुए करांची तक पाईप लाइन के निर्माण में अफगान गृह युद्ध एक व्यवहारिक बाधा थी। तुर्क, बनूच, उजबक, ताजिक और पश्चात् गुट सता के लिए आपस में लड़ रहे थे। इसमें सबसे बड़ा गुट पख्तुनों का था जो कुल अफगान आबादी का 42 प्रतिशत था और काबुल सहित अफगानिस्तान का 58 प्रतिशत भू–भाग पर फैला था जिन पर पाकिस्तान का गहरा प्रभाव था। इसके आलावा अमेरिका को यह भरोसा था कि वह तुर्क, ताजिक और उजबेक गुटो पर तुर्कमेनिस्तान, ताजिकिस्तान और उजेबेकिस्तान के माध्यम से नियंत्रण कर लेना क्योंकि इन देशों को अमेरिका प्रचुर सहायता प्रदान कर रहा था।

रूस ने अमेरिका की इस नीति को भांप लिया फलतः उसने ताजिक और उजबक गुटों को सैन्य सहायता प्रदान की। इस कार्य में ईरान एवं चीन से उसे पूर्ण सहयोग मिला। परिणामतः नार्दन एलायंस के रूप में अहमद शाहमसूदर के ताजिद एवं अब्दुल रशीद दोस्तम के उजबेक गुटों ने उत्तरी क्षेत्र पर कब्जा बनाए रख कर पाईप लाइन का मार्ग अवरूद्ध कर दिया। फलतः अमेरिकी

नीति पूर्णतः कामयाब हो पायी। दूसरी ओर सऊदी अरब की बहाने सरकार से सहायता पाकर तालिबान ने भी बहाबी ब्राण्ड इस्लाम के प्रचार में पाईप लाइन से अधिक रूचि दिखाई।

परिणामतः शेर की सवारी अमेरिका और पाकिस्तान दोनों को भारी पड़ा। 9/11 के बाद अमेरिका उसी तालिबान के सफाए को विवश हुआ, जिसे उसने जन्म दिया था। पाकिस्तान के लिए भी तालिबान भस्मासुर बन गया। विश्व में सार्वधिक आतंकवादी धमाकें आज पाकिस्तान में ही हो रहें हैं। किन्तु आज भी पाक सेना का एक बड़ा गुट उत्तरी पाकिस्तान में तालिबान को बनाए रखना चाहता है। जिससे वह आतंकवाद से निपटने के नाम हथियार और पैसा अमेरिका से प्राप्त कर सकें तथा उसे भारत के विरूद्ध इस्तेमाल कर सकें। दूसरी ओर अमेरिकी विदेश नीति निर्माता भी अब अच्छे तालिबान और बुरे तालिबान में भेद करने लगे हैं तथा अमेरिकी नीतियों के वाहक बनने पर अफगान सत्ता में भागीदार बनाने पर राजी हैं।

अमेरिका अफगानिस्तान से हटना चाहता है लेकिन अपने प्रभाव से निकलने देना नही चाहता। इसलिए अमेरिकी हितों वाले तालिबान को तैयार करने के नए काम पर अमेरिकी नीति नियंता लग गए हैं जिनमें पाकिस्तान महत्वपूर्ण है और इन सबके पीछे आज भी सबसे बड़ा प्रेरक तत्व है– मध्य एरिशाई तेल।

सन् 2007 में एक वक्त ऐसा भी आया था, जब इराक में एक लाख 70 हजार सैनिक तैनात थे। अमेरिका ने 20 मार्च 2003 को इराक पर हमला बोला था। फिर 13 दिसंबर 2003 को इराक के पूर्व राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन को पकड़ा दिया और तीन साल बाद 30 दिसंबर 2006 को उन्हें इराक में ही फांसी दे दी गई थी। सद्दाम हुसैन को पकड़ने, उन्हें मौत के घाट उतारने और इराक में कटपुतली सरकार बिठाने के बावजूद वहां हिंसा नही थमी और अमेरिका बुरी तरह फंस कर रह गया। आठ साल तक चले युद्ध में 4500 अमेरिकी जवान मारे गये और 32000 घायल हुए। इराकी प्रधानमंत्री इसी तेल का हवाला देकर ओबामा से हौसला आफजाई की खुराक लेते आए हैं, जबकि हकीकत यह है कि कुर्द खुद को इराक से अलग मानते हैं। वे पुरे इलाके में तेल के भंडार पर बाहरी दखल बर्दाशत नहीं करेंगें। इराकी सेना के लिए आंतरिक सुरक्षा ही बड़ी चुनौती हैं, तो सीमा की सुरक्षा की स्थिति समझना कोई मुश्किल काम नहीं। खुद इराकी सेना के शीर्ष अधिकारी यह मानते हैं कि सन् 2020 तक इराक अपनी जल, थल और वायु सीमा की पुरी सुरक्षा करने में सक्षम नही हो पायेगा।

वैसे एक सुकून वाली बात यह है कि सन् 2006–07 के दौरान सुन्नियों ने जो कोहराम मचाया था, उसमें थोड़ी कमी आयी है। लेकिन अपहरण, हत्याएं और धमाकें आज भी इराक में प्रतिदिन हो रहें हैं। अमेरिकी परिप्रेक्ष्य से देखने पर इराक से फौज वापसी का फैसला उसके लिए तात्कालिक रूप से लाभकारी ही हैं। अभी तक अमेरिका ने आकलन से कहीं ज्यादा खर्च कर दिए हैं, जिसके दूरगामी आर्थिक नतीजें सामने आने की चेतावनी कई विश्लेषक पहले ही दे चुके हैं। इराक पर हमले के समय यानी सन् 2003 में एक बैरल तेल की कीमत 145 डॉलर प्रति बैरल आसमान छू रही थी। कर्ज लेकर युद्ध में देश को झोंकनें की सरकारी नीति के कारण अमेरिका आज दो खरब डॉलर के घाटे में चल रहा है।

संदर्भ :

1. यूनाइटेड नेशन्स कैट्रोग्राफिक सेक्सन वेबसाइट

2. इन्टरनेशनल मौनिटरी फण्ड वर्ड इकोलोजिक आउटलुक डाटाबेल,अप्रैल 2011

3. द हिस्ट्री ऑफ द ब्रिटिश पेट्रोलियम कम्पनी, खण्ड 2

4. द एंग्लों ईरानियन इयर्स 1928–1954

5. द गार्जियन, 22 मई 2010

6. स्पीच ऐट द लन्दन बिजनेस स्तूल, मार्च 28, 2005

7. ग्लोबल पॉलिसी फोरम : ऑयल इन इराक, 26 जुलाई 2007